पठनीय

पुस्तक का नाम	*'असफल स्कूल'*
लेखक	जॉन होल्ट
मूल्य	₹ 80.00
प्रकाशक	एकलव्य ई–7/453 एच.आई.जी. अरेराकॉलोनी भोपाल–462 016 मध्य प्रदेश
अनुवादक	श्री अरविंद गुप्ता

शारदा कुमारी*

हाल ही के वर्षों में जब दुनिया भर की सरकारें विश्व बैंक के एजेंडे के तहत भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के उद्दाम आवेग में व्यापक समाज का बाज़ार अनुकूलित शैक्षिक समायोजन कर रही थीं, उसी समय शिक्षा के समाजशास्त्रीय संदर्भों के प्रति संवेदनशील बुद्धिजीवियों की निगाहें भी चौकन्नी हो रही थीं। ऐसा ही एक चौकस प्रयास किया गया 'एकलव्य' द्वारा बच्चों की स्कूली शिक्षा से जुड़ी विचार प्रघान पुस्तकों को अनुदित कर आम व्यक्तियों की परिधि तक पहुँचा कर जिससे शिक्षा के सरोकारों के प्रति विस्तृत और विश्लेषणपरक विमर्श की प्रक्रिया शुरू की जा सके। इन अनूदित पुस्तकों की शृंखला में एक पुस्तक है 'असफल स्कूल' जो अमेरिका के होम स्कूलिंग 'द अंडर एचीविंग स्कूल' का अँग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद है। अनुवाद श्री अरविंद गुप्ता जी द्वारा किया गया है।

* *वरिष्ठ प्रवक्ता*, जिला शिक्षा प्रशिक्षण संस्थान, सेक्टर – 7, आर. के. पुरम, नयी दिल्ली

यह पुस्तक मौजूदा स्कूली शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त खामियों की ओर संकेत करती है। ये संकेत भारतीय विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के लिए भी उतने ही प्रासंगिक और अर्थपूर्ण है जितने कि पश्चिमी समाज की स्कूली प्रणाली के लिए। पुस्तक की प्रस्तावना न्यूयॉर्क शहर की पत्रिका 'एजुकेशन न्यूज' के संपादकों द्वारा पूछे गए प्रश्न ''अमेरिका के स्कूलों को यदि इस साल एक बेहतर कल की ओर एक बड़ा कदम उठाना हो, तो वह क्या होना चाहिए?'' के उत्तर से शुरू होती है। इस प्रश्न के उत्तर में लेखक कहता है, ''वह कदम होगा प्रत्येक बच्चे को यह अधिकार देना कि वह अपनी शिक्षा को खुद नियोजित करे, खुद निर्देशित करे, और खुद ही उसका मूल्याँकन करें। उसे इस बात की अनुमति देना और इसके लिए प्रोत्साहित करना कि वह विशेषज्ञों और ज़्यादा अनुभवी लोगों की प्रेरणा और मार्गदर्शन से खुद तय करे कि उसे क्या सीखना है, कब सीखना है, कैसे सीखना है, और वह उसे कितनी अच्छी तरह से सीख रहा है।''

यह पुस्तक आश्चर्यजनक रूप से भारत की मौजूदा शैक्षणिक दुनिया को उत्तेजित करती है और शिक्षा व्यवस्था में क्या-क्या बदलाव आने चाहिए, इस पर कलात्मक और समालोचनात्मक ढंग से अपना रुख स्पष्ट करती है। इस अर्थ में यह पुस्तक अपनी चिंता में मानवाधिकारों तथा लोकतांत्रिक मूल्यों को भी शामिल करती है। पुस्तक में लेखक के पहले किसी पत्रिका या किताब में छप चुके छोटे-छोटे 14 लेखों का संकलन है। इग्लैंड में जॉन होल्ट द्वारा दिया गया व्याख्यान इस संकलन को और समृद्ध बनाता है। अपने आखिरी पन्नों में यह पुस्तक मौजूदा शिक्षा व्यवस्था से उभरे सवालों से भी टकराती है।

पुस्तक के विषयक्रम की पहली इकाई 'सच्ची सीख' शिक्षा के मायनों पर रोशनी डालती है। हरेक बच्चे में, बिना किसी अपवाद के, अपनी दुनिया को समझने की एक असीमित अंदरूनी ललक होती है और वह इस दुनिया में सक्षम बनना चाहता है, उसमें स्वतंत्रता चाहता है। जो बातें सच में बच्चे की समझ, खुशी, विकास की क्षमता और उसमें अपनी स्वतंत्रता के अहसास और स्वाभिमान को बढ़ाती हैं, उन्हीं को हम सच्ची शिक्षा कह सकते है। लेखक के अनुसार शिक्षा वह चीज़ है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए खुद हासिल करता है। वह कोई ऐसी चीज़ नहीं जो कोई दूसरा उसे देता या दे सकता है। लेखक के अनुसार शिक्षा वही है जो अपने आस-पास की दुनिया को बेहतर ढंग से समझने और अपने-आपको विकसित करने में मदद करे। साथ ही अपने आस-पास की असली समस्याओं से जूझ सकने और इंसानियत का भला कर सकने की क्षमता पैदा कर सके। अपने बच्चों की शिक्षा के संदर्भ में समाज की स्कूलों से कुछ अपेक्षाएँ है। समाज चाहता है कि स्कूल बच्चों को अपनी परंपराओं और संस्कृति के उचित मूल्यों को सिखाएँ, बच्चे जिस दुनिया में जीते है उससे उन्हें अवगत कराएँ और बच्चों को किसी रोज़गार के लिए तैयार कर सकें। लेखक का मानना है कि स्कूल इनमें से एक भी

काम अच्छी तरह से नहीं कर पा रहे क्योंकि वे समाज का हिस्सा बनने के स्थान पर उससे अलग-थलग रहकर कार्य कर रहे हैं। पुस्तक हर कदम पर स्वीकार करती है कि शिक्षा और काम के बीच जो विरोध स्कूलों ने पैदा कर दिया है वह अवास्तविक और घातक है। किताब का दूसरा संकलन 'थोड़ी-सी सीख' शैक्षिक सिद्धांतों पर चर्चा करते हुए इस बुनियादी गलती की ओर इशारा करता है कि समझ मूलरूप से शाब्दिक और सांकेतिक होती है। लेखक चिंतकों को इस धुँधलके से बाहर निकलने और कक्षाओं को एक बिल्कुल ही अलग तरह की जगह में बदल देने की गुज़ारिश करते हैं।

विषयक्रम का तीसरा संकलन 'स्कूल बच्चों के लिए खराब जगह है' जहाँ एक ओर अपने शीर्षक से चौंकाता है तो दूसरी ओर स्कूलों के मौजूदा स्वरूप से उपजने वाले भयानक खतरों की और भी आगाह करता है। ''...कि स्कूल बच्चों को अपना 'स्विच ऑफ' कर लेने की एक लंबी ट्रेनिंग देता है'' यह एक अकेला वाक्य ही यह बतलाने भर में समर्थ है कि किस तरह से स्कूल का माहौल बच्चों के दिमाग पर अंकुश लगाकर उन्हें समग्र रूप से रचनात्मक जिंदगी जीने नहीं दे रहा। लेखक ने चुप्पी की संस्कृति की खिलाफत करते हुए कहा है कि जो शिक्षक सूनी कक्षाओं के अभ्यस्त हैं वे बच्चों की बुद्धिमानी प्रफुल्लता, मज़ाक की क्षमता का कोई अंदाज़ नहीं लगा पाँएगें वे हमेशा बच्चों को बेवकूफ और पढ़ने के नाकाबिल ही समझेंगे। बच्चों के सीखने के संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट किया गया है कि ''बच्चों को अपने काम का मूल्याँकन खुद करने दें।''

जो बच्चा बोलना सीख रहा हो, वह बार-बार टोकने से नहीं सीखता। अगर उसे बहुत बार टोका जाए तो वह बोलना बंद कर देगा। बच्चों को अपनी गलतियाँ खुद सुधारने दें। यदि वे चाहें तो अन्य बच्चों की सहायता से खुद शब्दों का सही अर्थ खोजें, समस्याओं के हल खोजें और बातचीत का सही तरीका सीखें।

'चूहा दौड़' शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने कुछ नामी स्कूलों पर भीषण आरोप लगाया है कि "वे काबिल छात्रों का भीषण शोषण करते हैं।" ये स्कूल बच्चों को व्यापार जगत की ही तरह एक उपभोक्ता के रूप में देखते हैं और उन पर विनाशकारी मनोवैज्ञानिक दबाव डालते है। 'चूहा दौड़' संकेत करता है उस प्रतिस्पर्धा की ओर, जहाँ बच्चे स्कूली शिक्षा के बाद कॉलेजों में प्रवेश के लिए भटकते हैं। सभी का ध्येय नामी कॉलेजों में दाखिला पाने का होता है पर कम अंकों की वजह से वह अपने मनचाहे कॉलेज और कोर्स में प्रवेश नहीं ले पाते। इस स्थिति को लेखक ने बहुत ही दर्दनाक और अमानवीय बताया है। लेखक की नज़र में अच्छे अंक पाने के दबावों का एक विस्तृत और सामान्य परिणाम यह हुआ है कि सीखने की प्रक्रिया का अर्थ ही बदल गया है। बच्चे सीखने की अपेक्षा 'सही उत्तर' की खोज कर पाने को ही शिक्षा समझ बैठे हैं। वे गलती करने से कतराने लगते है। इससे

उनकी बौद्धिक प्रतिभा ढँक जाती है और सच्ची सीख असंभव हो जाती है।

'शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते है' लेख के माध्यम से उन्होंने कक्षा में बच्चों के बीच पैदा की जा रही चुप्पी की संस्कृति की कड़े शब्दों में निंदा की है। लेखक के अनुभव इस बात के पक्षधर हैं कि अध्यापकों को कक्षाओं में बोलने का बहुत शौक होता है। वे बच्चों को बोलने का अवसर ही नहीं देते। उनका ज़्यादातर बोलना कक्षा की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए होता है। इस बिंदु पर ज़ोर देते हुए 'सीखने' की अवधारणा स्पष्ट की गई है और स्पष्ट किया है कि सीखना कोई निष्क्रिय कार्य नहीं है। वे आरोप लगाते हैं कि स्कूली व्यवस्था और बेलगाम बोलने वाले शिक्षक ही बच्चों को निष्क्रिय शिष्यों में बदल देते हैं। शिक्षकों को कक्षा में कम बोलने की सलाह देते हुए और बच्चों की आवाज़ को मुखरित करने की अपेक्षा करते हुए पुस्तक 'परीक्षा पद्धति' के बारे में मानस को झिंझोड़ती है। शीर्षक है 'परीक्षण का आतंक'। शीर्षक कौतूहल जगाने में समर्थ है। दरअसल शीर्षक अपने आप में एक विस्तृत चिंतन और अनुभवों का परिणाम है। ज़रा कल्पना कीजिए यदि इस लेख का शीर्षक होता है 'परीक्षाओं का स्वरूप' या फिर 'स्कूलों में परीक्षाएँ' तब यह लेख पाठकों को निर्देश तो देता पर किसी तरह का संवाद नहीं करता। लेखक ने परीक्षण को शिक्षा का अभिन्न अंग माने जाने की पुरज़ोर खिलाफ़त की है। उनका कहना है, ''...मेरी राय में परीक्षण न तो ज़रूरी है, न ही उपयोगी और उसे माफ़ करना मुश्किल है। परीक्षण से फायदा कम, नुकसान ज़्यादा होता है, उससे सीखने की प्रक्रिया विकृत हो जाती है, रूक जाती है।'' परीक्षण की वकालत करने वालों के दावे कि ''परीक्षण की तकनीकों मे लगातार सुधार हो रहा है और वे अंत में एकदम दुरुस्त हो जाएगी'' की भी खिलाफ़त करते हुए समझ बनाने की कोशिश की जाती है कि हमारी प्रमुख चिंता परीक्षण को बेहतर बनाने की नहीं, बल्कि उसको पूरी तरह से हटाने की होनी चाहिए। ''बच्चों को समझ में आए या नहीं, उपयोगी है या नहीं, इसको छोड़ो। बस यह देखो कि परीक्षा में बच्चों के अच्छे नंबर आएँ।'' इन वाक्यों को और बढ़ाते हुए परीक्षा के प्रति अपनी तमाम आपत्तियाँ दर्ज़ की जाती हैं। परीक्षाओं से उन विद्यार्थियों को ही सज़ा मिलती है जो धीरे काम करते है। परीक्षाएँ उनका ही साथ देती है जो अनुमान लगाने मे चतुर होते है।

परीक्षण के आतंक से गुजरते हुए पाठक अनिवार्य उपस्थिति के नियमों पर संवाद करेगें 'सुनहरे नियमों वाले दिन ढले' शीर्षक के ज़रिए। शीर्षक जितना मौजू है उसका कलेवर उससे भी कहीं अधिक। अनिवार्य उपस्थिति के कुल दिवसों के बारे में आम धारणा यह है कि विद्यार्थी अधिक-से-अधिक दिन विद्यालयों में रहेगें तो अधिक-से-अधिक सीखेगें। परंतु लेखक इस प्रचलित धारणा का खंडन करता है। उसके अनुसार जब ये नियम बने ये तो बच्चों के हक में थे। वे दरअसल शिक्षा प्रदान करवाने और आर्थिक शोषण करने वाले वयस्कों

से उन्हें बचाने के लिए बने ये बहुत से किसान, छोटे दुकानदार और कारीगर, जिन्हें खुद औपचारिक शिक्षा का मौका नही मिला था, अपने बच्चों से भी खदानों, कारखानों और खेतो मे काम करवाना पसंद करते थे। अनिवार्य उपस्थिति के कानून इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिए बने थे परंतु अब जिस तरह की कक्षायी शिक्षण प्रक्रियाएँ मौजूद हैं विद्यालयों में, वे अपने-आप में बच्चों के शोषण का बहुत बड़ा कारण है। स्कूलों द्वारा करवाए जा रहे कार्यो और दिए जा रहे उकताऊ किस्म के 'होमवर्क' के रहते बच्चे बहुत से रोचक और गंभीर कार्यो को नहीं कर पाते जिन्हें कि वे करना चाहते हैं। यह सही है स्कूल में बच्चों को अपनी ही उम्र के बहुत से और बच्चों से मेल-जोल के मौके मिलते हैं पर वहाँ चल रही कवायदें क्या वाकई उन्हें मेल-जोल करने के मौके देती हैं? यदि नहीं तो स्कूल निश्चित रूप से जेलखाने से अधिक नहीं हैं।

स्कूल की बजाय बच्चे घर, पास पड़ोस और खेल के मैदानों में कहीं अधिक और बेहतर सीख पाते हैं, इस तरह के उदाहरण देते हुए पुस्तक ले चलती है हमें एक नए आयाम की ओर जहाँ से यह संकेत मिलता है कि विद्यालयों द्वारा अपनाई जा रही शिक्षण पद्धतियाँ किस तरह से बच्चों में पढ़ने के प्रति नफ़रत पैदा करती हैं। 'नॉन स्टाप' और 'निबंध दौड़' जैसे बहुत से रोचक उदाहरण पढ़ते हुए पाठक 'व्यवस्था और अव्यवस्था' के घेरे में अपने-आपको पाते हैं। ''सच्ची सीख कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं होती'' यह कहकर लेखक चौंकाता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि स्कूल में जब तक अनुशासन की व्यवस्था नहीं होगी, क्या तब बच्चे कुछ सीख पाएगें? पर लेखक के विचार तो कुछ और ही हैं। बच्चों का कक्षा में जमकर शोर मचाना अनुशासन हीनता नहीं हो सकता और फिर वे शोर इसलिए मचा रहे है क्योंकि वहाँ इससे अच्छा कुछ और करने के लिए है ही नहीं।

लेखक ने मौजूदा कक्षा व्यवस्था के प्रति अपना गहरा रोष प्रकट करते हुए कहा है कि ये व्यवस्थाएँ बच्चों को बोलने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती हैं। उनका अनुभव है कि जब बच्चों को हिज़्जों संबंधी गलतियों के लिए टोका जाता है तो वे लिखने से कतराने लगते है और जब मानक भाषा या बड़ों जैसी भाषा में बोलने की अपेक्षा की जाती है तब वे बोलने की अपेक्षा चुप रहना पसंद करते हैं। जब बच्चों को लगता है कि बड़ों को उनकी बातें सुनने में गहरी रुचि है और हम उनका कोई मूल्याँकन करने नहीं आए हैं तो ये बच्चे बड़ी कुशलता से धारा-प्रवाह भाषा में बोलते हैं। बच्चों के बोलने के संदर्भ में एक बहुत बड़ी शिक्षणशास्त्रीय चिंता की ओर ध्यान दिलाया गया है कि बच्चों को मानक भाषा बोलने के लिए बाध्य करना भी उन्हें 'चुप' रखने का तरीका है। हमें इस धारण को खारिज करना होगा कि यदि गरीब बस्तियों के बच्चे मानक भाषा नहीं बोल पाते तो वे बुद्धिहीन, कम होशियार या बातचीत में अपंग है। ऐसा मान लेना गंभीर गलती होगी।

हालाँकि पूरी पुस्तक जान होल्ट के अपने अनुभवों का संकलन है और वे अनुभव जो उसने अमेरिका के विद्यालयों के अवलोकन के दौरान अर्जित किए थे पर हर दूसरी-तीसरी पंक्ति को पढ़कर पाठक इसी भ्रम में रहेगें कि यह तो भारत की मौजूदा स्कूली शिक्षा व्यवस्था की बात चल रही है। 'असंभव पढ़ाई को पढ़ाना' शीर्षक के इस अंश को पढ़कर आपको क्या ऐसा ही नहीं महसूस होता? हमारे शहरों की गरीब बस्तियों में स्थित स्कूल अपने खराब माहौल के कारण कई तरह से बच्चों का विकास कम, विनाश अधिक करते हैं। बच्चों के प्रति उनका व्यवहार लगातार शत्रुतापूर्ण रहता है। ...हमारी कोशिशें यह रहती हैं कि किस प्रकार हम गरीब बच्चों को प्रभावशाली ढंग से बोलना सिखाएँ और साक्षर बनाएँ। ...हमारे सबसे अच्छे स्कूलों की भी हालत कोई अच्छी नहीं है। उनमें से निकले अधिकांश बच्चे, बस्ती के गरीब बच्चों की तरह ही, न तो ठीक से बोल पाते है और न ही अपनी मनपंसद चीज़ों के बारे मे लिख पाते हैं। ...वे कभी भी अपनी सच्ची राय नहीं लिखते और अगर उन्हें बाध्य नहीं किया जाता तो शायद वे कभी लिखते ही नहीं। ...स्कूलों और कक्षा में फिजूल की बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। कक्षा में सफ़ाई काम में बारीकी, शिक्षक के घिसे-पिटे विचारों में आस्था को स्वतंत्र, मौलिक, ईमानदार विचारों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता है। आज भी बहुत से स्कूलों में हिज्जों और व्याकरण की छोटी-मोटी गलतियों के कारण बच्चों को फेल कर दिया जाता है। निबंधों में बच्चों की मौलिकता या अन्य खूबियों का कोई मूल्यांकन नहीं होता। लेखक ने सिर्फ़ समस्या को ही सामने नहीं रखा है अपितु सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं, जैसे– ''अगर हमें छात्रों की लिखने की कुशलता को बेहतर बनाना है तो हमें सबसे पहले एक बात सीखनी होगी। छात्र भाषा को हमेशा अपने तरीके से उपयोग करेगा, वह प्रभावशाली हो इसकी कोशिश करेगा। वह भाषा का परीक्षण उन लोगो के साथ बात करके करेगा जो न केवल उसकी बात को सुनें बल्कि जो उसके विचारों को गंभीरता से भी लें।''

मौजूदा समस्याओं की सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्तियों का विश्लेषण और अंत: संबंधों को 'भविष्य के लिए शिक्षा' शीर्षक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने शिक्षा की समस्या पर चर्चा के समय भीड़ वाली कक्षाओं, शिक्षकों की कमी, पुरानी इमारतों, आर्थिक कमी, शैक्षणिक सत्रों और तकनीकों के प्रभावों की कमी, मूल्यांकन के तरीकों आदि को शिक्षा की समस्या माना ही नहीं है। उनके अनुसार पर्यावरण, शांति, काम के अवसरों और मानव होने की गरिमा को खतरा, यह सब शिक्षा से संबंध रखने वाली समस्याएँ हैं, स्वयं लेखक के शब्दों में, ''हमारे सामने यह समस्या नहीं कि स्कूल कैसे काम करें, बल्कि यह कि उनका काम क्या है, कि शिक्षा का हमारे समय की बड़ी समस्याओं और मुद्दों से क्या संबंध है?" भविष्य के लिए शिक्षा को क्या-क्या काम करने होगे, इस सवाल को बहुत ज़ोरदार तरीके से लेखक ने उठाया है। शांति स्थापित करने, जाति-वर्ग

के भेद को दूर करने, काम के अवसरों की सुलभता, पर्यावरण का संरक्षण, मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता का अहसास इन सब कामों में स्कूलों को ही आगे आना होगा। शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है ऐसे लोगों को बनाना जो अपने जीवन से खुश हों। मनुष्यता को जीवित रखने के लिए ऐसे लोगों को बनाना सीखना होगा जो अपने जीवन को संपूर्ण रूप मे जीना चाहते हों, उसे सार्थकता और खुशहाली से भरना चाहतें हों। लेखक का मानना है कि आज स्कूलों में हम ऐसे लोगो को विकसित कर रहें हैं जिनका उद्देश्य किसी भी तरीके को अपनाकर जीवन में दूसरों से आगे बढ़ना है। स्कूल ऐसे समुदाय के रूप में उभरने चाहिए, जहाँ पर बच्चे भाषणों से नहीं, बल्कि वास्तविक काम करके और जीवन जीकर अन्य लोगों की आवश्यकताओं के प्रति चेतना और सहानुभूति हासिल करें।

गरीबी, कचरे और पर्यावरण हनन को लेखक ने सिर्फ़ आपस मे नहीं बल्कि अन्य समस्याओं से भी जुड़ा पाया है जिस लालच के कारण पर्यावरण को खतरा है उसी की वजह से गरीबी को समाप्त करना मुश्किल है। शिक्षा के सामने यह चुनौती है कि वे लालच के सूराखों से बचकर कड़े होने और जिंदगी जीने के तरीके बच्चों को सिखाएँ। लेखक ने स्वीकार किया है कि लालच कुछ सीमा तक तो स्वाभाविक भी है लेकिन इसकी कोई तर्कसंगत सीमा होनी चाहिए। एक बहुत ही सुंदर उदाहरण पेश करते हुए लेखक ने लालच की सीमा को चित्राकित किया है, ''मेन नाम के शहर में खेलकूद के सामान की बड़ी दूकान है। उसके मालिक मिस्टर बीन को एक बार किसी ने थोड़ी मेहनत से व्यापार को तिगुना करने का गुर बताया। इस पर मिस्टर बीन ने कहा," "आखिर क्यों? मैं दिन में चार बार तो भोजन नहीं कर सकता।" इस तरह के संतोष की भावना पैदा करना शिक्षा का ही काम है। और यदि स्कूल यह काम करने में सफल हो जाते हैं तो पर्यावरण को खतरे जैसी समस्याओं का हल तो खुद-ब-खुद निकल आएगा। दरअसल लेखक का मानना है कि जब हम पैसा कमाने के लिए एक-दूसरे की होड़ करते है तभी प्राकृतिक संसाधनों को खतरा पहुँचता है। शिक्षा के क्षितिज पर तरह-तरह के सवालों को उभारकर पाठकों के मानस को झिंझोड़ती हुई पुस्तक एक पत्र पर आकर समाप्त होती है जो लेखक ने अपने किसी मित्र डॉ. ब्लिस को लिखा है। पत्र के कुछ अंश प्रस्तुत हैं जो कि पुस्तक के समूचे कलेवर का सार संक्षेप प्रस्तुत करते हैं, "...मेरी राय में बच्चे तभी सबसे अच्छा सीखते हैं जब वे खुद किसी चीज़ को सीखना चाहते हैं, जब वे खुद ही निर्णय लेते हैं कि वे उसे कब और कैसे सीखेगे, जब वे किसी चीज़ को किसी के कहने से नहीं, बल्कि खुद अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए सीखता हूँ। ...मै चाहता हूँ कि बच्चों को अपनी सीख बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन किया जाए और इसमें उनकी मदद की जाए। ... हम जो कुछ भी कहते हैं उसके द्वारा हम सीखने और जीने को पृथक कर देते हैं, जबकि हमें उन्हें जोढ़ने का प्रयास करना चाहिए'...।''

अंततः एक मूल सवाल उठाकर पुस्तक की समीक्षा पर विराम लगाती हूँ। क्या हम बच्चों को भीरू, आज्ञाकारी, डरपोक, कायर बनाना चाहते है या फिर मुक्त चिंतन एवं मननशील इंसानों जैसा? अगर हमें भीरू लोग चाहिए तो हमारे स्कूलों की वर्तमान हालात उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त हैं और अगर हमें चिंतनशील इंसान चाहिए तो कुछ बड़े-बड़े परिवर्तन करने चाहिए।

जिन लोगों की दिलचस्पी समाजशास्त्रीय अनुभवों और सिद्धांतों के समानांतर शिक्षा के सरोकारों में रही है उनके लिए यह पुस्तक एक ज़रूरी संदर्भ है।